International Journal of Hindi Research
www.hindijournal.com
ISSN: 2455-2232
Received: 11-01-2026, Accepted: 10-02-2026, Published: 25-02-2026
Volume 12, Issue 1, 2026, Page No. 165-167

आदिवासी कलारूपों में नाटकीय तत्वों का अध्ययन

अंकुश सिंह[1], डॉ. सुरेंद्र बहादुर सिंह चौहान[2]
[1] शोधार्थी, अवधेश प्रताप सिंह वि. वि. रीवा, मध्य प्रदेश, भारत
[2] पूर्व प्राचार्य, सेवा नृवित्त, शास. कन्या महाविद्यालय सीधी, मध्य प्रदेश, भारत

सारांश
जनजातीय समाज में ऐसी हज़ारों मान्यताएं और कलारूप हैं जिनमे नाटकीय तत्वों की भरमार है। इन्हें हमे इनके बीच रहते हुए समझने की ज़रुरत है। कलारूप ही जिनका जीवन हो, ऐसे समाज या लोक से हम गहरी पैठ बनाकर ही, उनके जनजीवन से तत्वों को ग्रहण करते हुए अपने रंगकर्म में सार्थक, सफल और रचनात्मक प्रयोग कर सकते हैं। हमे अपनी रचनात्मकता के जरिये ही इन रंगतत्वों को अपने प्रयोगों में शामिल और उकेरने की कोशिश करनी चाहिए, वरना वो तत्व व्यापार की वस्तु बनकर रह जाते हैं। जनजातीय कलारूपों और रंगमंच में परस्पर आदान–प्रदान की अपार संभावनाएं मौजूद हैं। लेकिन हम केवल अपने मतलब की चीज़ निकालने के उद्देश्य से इनके पास जायेंगे तो हम उनके वास्तविक रूप से वंचित रह जायेंगे या यूँ कहें की हमे इनके आंतरिक सौन्दर्य का बोध आजीवन नही हो पायेगा। हमे लोक की सोंधी मिट्टी और जीवन शैली से बहुत कुछ सीखना होगा। एक हाथ से उनसे उनका जीवन रंग पाना होगा तो दूसरे हाथ से उनके विशुद्ध संस्कृति और कलारूपों में मंचीय प्रदर्शन प्रक्रिया को जोड़ना होगा। जब जनजातीय कलारूप और रंगमंच की रचनाभूमि एक होगी तब जाकर हम उनमे निहित तत्वों को पूरे सौन्दर्य के साथ अपने रचनाकर्म में प्रयोग कर सकेंगे, उन्हें अपना बनाने में कामयाब होंगे। सहज, सरल और जीवंत जनजातीय लोक मानस कभी ठहरता नही, जनजातीय जीवन शैली में एक नाट्य संसार रचा–बसा है। आवश्यकता है इन्हें सहेजने की, इन पर नज़र रखने की और इन्ही के अनुरूप उनके सुन्दर और कलात्मक रूपों को बचाने की ।

मूल शब्दः लोक जीवन और रंगमंच, लोकवाद्य और रस

प्रस्तावना
आदिवासी कलारूपों और रंगमंच का क्या अंतर्संबंध है या उनके होने में रंगमंचीय तत्वों की क्या भूमिका है। यह मैं उन दिनों समझ पाया जब लोक कलाग्राम भ्रमण के दौरान बघेलखण्ड क्षेत्र के कोल, बैगा, गोंड, घसिया, भील, अगरिया आदि जनजातियों और उनके विविध कलारूपों को उन्ही के बीच रहते हुए देखने, सुनने और समझने का अवसर मिला। धीरे–धीरे इन कलारूपों और इनके संवाहको से आत्मीयता बढ़ती गई और फिर इस अद्भूत लोक के मानवों की जीवन शैली और कलाओं का अंतर्संबंध भी समझ आया। यह सिलसिला वर्षों पहले शुरू हुआ और अब तक जारी है, मेरे लिए लोक रत्नों से भरे लबालब समुद्र की तरह है। जब भी कभी अपने दैनंदिन से ऊबता हूँ या कार्यों का दोहराव होता है तो गाँव चला जाता हूँ और कुछ नया तलाशने लगता हूँ। और लोक के द्वार से कभी खाली हाथ वापस नहीं आना पड़ा, हर बार मेरे परिश्रम का दोगुना लोक ने मुझे दिया है। लोक तत्वों को सहेजते, उनकी मौलिकता से परे उन्हें लिखित रूप में लाते हुए मैंने उन्हें अपने रंग प्रयोगों में शामिल किया है। नाट्यवेद के रचयिता भरतमुनि यूं ही नही कहते कि जो इस शास्त्र में न हो वो लोक में मिल जाएगा। उसके पीछे उनका सार्थक मंतव्य है, लोक पर अटूट विश्वास है। जनजातीय कलाओं की आधार भूमि अनुष्ठान है या यूँ कहें की लोक संस्कृति अनुष्ठान की धुरी पर गति करती है। वहीं दुनिया की तमाम कलाएं और रंगमंच अनुष्ठान है। जनजातीय कलाएं जिन्हें आज हम मंचीय रूप में पा रहे हैं वो सब विशुद्ध अनुष्ठान की उपज हैं। बैगा जनजाति में कुल देवता की पूजा के समय भैसा कि बलि देने की प्रथा रही है, कलांतर में उनकी सहज अभिव्यक्ति जब मंच पर आयी तो नकली तलवार और नकली भैंसे के रूप में बदल गई। वही अनुष्ठान मनोरंजन के रूप में दर्शकों तक पहुचने लगा। रंगमंचीय तत्वों की उपस्थिति ने ही उसे प्रदर्शन तक की यात्रा तय कराई। ऐसे तमाम जनजातियों के अनुष्ठान प्रदर्शन के कलारूपों में आये।

गोंड प्रधान द्वारा बाना गीत गाये जाते हैं यह गोंड जाति में अनुष्ठान और विभिन्न अवसरों के कृत्यों को संपन्न कराने वाला समुदाय है। बाना विशेष तरह का वाद्य यंत्र है जो गोंडों की गाथा गायकी में प्रयोग किया जाता है। इस गायकी में गोंडो के प्रतिनिधि पुरुषों की गाथा गाई जाती है। इस गाथा गायन शैली में संवादों, प्रतिसंवादों का सामंजस्य और उनकी लयात्मकता देखते ही बनती है। कथा कहता हुआ बाना गायक यकायक उठ खड़ा होता है और कथा में आये चरित्र का संवाद उसी के अंदाज़ में बोलने लगता है। लेकिन इस दौरान कथा सुनते श्रोताओं का लय प्रवाह क्षण भर के लिए भी नहीं टूटता। संवाद ऐसे मानो वो गा रहा हो, जहां रसभंग की कोई गुंजाइस नही। कथाकार हमें गाथा में निहित तमाम तरह के रसों का पान कराता है परन्तु बिना किसी बनावटी पन के। जनजातीय गाथा गायन रूपों में हम रंगमंच की एपिक शैली को बारीकी से समझ सकते हैं। अपने शैशव काल से अब तक बाना गायकी ने अद्भुत सफ़र तय किया है। प्रधान द्वारा गाई जाने वाली बाना गायकी उनके अनुष्ठानिक परम्पराओं से जुड़ी थी, जब तक इनमे अनुष्ठानों के प्रति अटूट विश्वास रहा तब तक इस शैली में सैकड़ों कथाएँ कही जाती रहीं। कलांतर मे अनुष्ठानो का आयोजन कम होने लगा और धीरे–धीरे इन कथाओं के कहने वाले कलाकार भी कम होते गए। ज़ाहिर है इस दौरान कथाएं भी विलुप्त हुई होंगी लेकिन बाकी कलारूपों के तरह इनका क्षय नही हुआ। क्योंकि यह कथाएं इसी जाति द्वारा बनाये जाने वाले भित्तिचित्रों में परिवर्तित होती गईं। भित्तिचित्र के बाद यह गोंड प्रधान पेंटिंग (आदिवासी पेंटिंग) के रूप में सामने आयी। गोंड प्रधान पेंटिंग के विकसित होते–होते इधर बाना गायकी में कुछ ही कथाएं बची। पर जो कथाएं उनकी गाथा गायकी से विलुप्त हुईं वो वर्षों–वर्षों तक गोंड प्रधान पेंटिंग के चित्रकारों की कूंचियों के माध्यम से कैनवास पर उतरती रहीं। कितने–कितने कलाकारों ने, कितनी–कितनी बार उन्हें अपने–अपने विचारों के मार्फ़त नया रूप दिया। उन कथाओं को कैनवास पर शक्ल मिलती रही

उसके चरित्र जीवित होते रहे। बाना गायकी का सफ़र यहीं नही रुका। जब गाथा गायकों के पास कथाओं का अभाव समझ आया तो उन्होंने गोंड पेंटिंग में कैनवास पर उतारी जाने वाली कथाओं को पुनः अपनी गाथा गायकी में शामिल किया। बाना गायकी में अब जो गोंड पेंटिंग से ली गई कथाएं कही जाने लगीं तो इनमे रंगमंचीय तत्वों की भरमार रही। इसके प्रदर्शन में नवाचार दिखने को मिला साथ ही कथाकार की गायकी और उसके संवाद आदायगी से विम्ब बनने शुरू हुए और चरित्र अपने पूर्ण रूप में आने लगे। दर्शकों तक कैनवास पर खींचे उकेरे गए चित्र की तरह दृश्य विन्यास पहुचने लगा। इतना ही नही गाथा गायकी में उपस्थित नाट्य तत्वों ने स्वतंत्र नाट्यरूप को जन्म दिया। इन्हें हम लोकनाट्य कहते हैं क्योंकि यह लोक के बाकी के कलारूपों से अलग नहीं बल्कि उसी के अंश हैं। डिंडोरी के कुछ ग्रामों के गाथा गायक और गोंड पेंटिंग के कलाकारों ने एक नाट्य समूह बनाया है। उन्होंने यह अपनी गाथा गायकी से ही सीखा और इसका प्रयोग तमाम अन्य लोक कलारूपों के प्रदर्शन के दौरान दर्शकों का मूड चेंज करने के लिए करते हैं। लेकिन हम देख रहे हैं कि आगामी कुछ वर्षों में यह स्वतंत्र रूप से लोकनाट्य का रूप ले लेगा। हम गोंड गाथा गायकी से उसे नाट्य रूप लेने तक के सफ़र पर बात कर रहे हैं। जनजातीय समाज में ऐसे हज़ारों कलारूपों के सफ़र और उनमे हुए क्रमिक परिवर्तन को समझने की आवश्यकता है।

देह गति और पाद चालों का जितना सामंजस्य और विविधताएँ हमे जनजातीय नृत्य रूपों में मिलती है उतनी अन्यत्र नहीं। यहाँ प्रत्येक जीव के लिए चाल निर्धारित है, जो अपने आप में अनोखी है। छाऊ की ही तरह जनजातियों में अनेको ऐसे नृत्य हैं जो तमाम तह की चालों को मिलाकर एक पूर्ण नृत्य का रूप लेते हैं। कोल जनजाति का "काली जवारा नृत्य" करता हुआ कलाकार कब और कितनई सहजता के साथ बन्दर, शेर, भालू, अघासुर, रीछ, हिरन आदि का करतब कर जाता है हम अभिनेताओं की सोच से परे है। कभी–कभी ऐसे अवसरों पर प्रत्येक जानवर के मुखौटे लगाये जाते हैं और उनकी कथा कही जाती है। यहाँ सारे जानवर बोलते है आम मानवों की तरह। पूरी तरह नाट्य प्रस्तुती की जाती है, इन कहानियों में जानवरों के साथ–साथ मानव चरित्र भी होते है लेकिन कहानी में हीरो जानवर ही होगा। बंदर बना हुआ व्यक्ति बड़ी फुर्ती के साथ पेड़ों और घर की छप्परों पर गति करता है। यहाँ हमे उस साधारण से व्यक्ति में चरित्र की ऊर्जा देखने को मिलती है। इसे जनजातीय समाज खेल कहता है। वह कभी–कभी किसी बड़बोले व्यक्ति की खिंचाई करने के उद्देश्य से कह देते हैं कि चलो बंदर का खेल करके दिखाओ। खेल का मतलब यहाँ नाट्य कला से ही है वो उस व्यक्ति की बंदर की तमाम तमाम गतिविधियाँ जो उसके दिनचर्या में होती है करके दिखाना है। यदि व्यक्ति नया–नया कलाकार है तो वो साफ़–साफ़ मना कर देगा कि वरना वो उपहास का पात्र होगा। यह "काली–जवारा" नृत्य का ही एक हिस्सा है। जौ प्रवाहित करने के दौरान कोल समाज पूरे गांव का भ्रमण करता है। यह कौतुक और हास्य थकावट का निदान है। उमरिया जिले का अभिनय प्रधान मोरिला नृत्य पूरे साज–बाज, वस्त्र विन्यास और रूप सज्जा के साथ किया जाता है। बघेलखण्ड के आदिम जनजातियों में प्रचलित "दुल–दुल घोड़ी नृत्य" भी अभिनय तत्वों से परिपूर्ण है। इसमें नृत्य नाम मात्र का का होता है। रात–रात भार चलने वाले इस नृत्य में कमाल की संवाद अदायगी होती है। इसका कलाकार घोड़े का एक बड़ा मुखौटा पहनता है और घोड़े के नृत्य और उसकी चाल का अभिनय करता है। इस दौरान वो रस परिवर्तित करने के लिए संवाद का सहारा लेता है तथा घोड़े से जुड़ी पौराणिक कथाओं का बखान करता है। कथा के बीच–बीच में वो घोड़े से अपनी बात को सत्यापित करने के लिए पूछता रहता है कि क्या उसने सही कहा। परिस्थित और कथा के अनुसार घोड़ा हां या न में ज़वाब देता रहता है। कभी–कभी घोड़ा मालिक को रोक कर खुद कथा कहने लगता है यानी कलाकार घोड़े की शैली में कथा को आगे बढ़ाता है, इस परिवर्तनों की जगह पर लोग जोर–जोर से ठहाके लगा के हँसते हैं। इसका कलाकार अलग–अलग जानवरों की आवाज़ निकालने और चरित्र के हिसाब से आवाज़ को परिवर्तित करने में दक्ष होता है। साथ ही वो बेहतरीन हास्य कलाकार होता है वो अकेले रात–रात भर हज़ारों दर्शकों को अपने अभिनय क्षमता से रोके रखता है।

जनजातीय कलारूपों में साउंड की कमाल की भूमिका है चाहे वो नृत्य हो, गीत, गाथा या उनके वाद्य। वो गीत, कथा, नृत्य की प्रकृति के हिसाब से उनमे साउंड का प्रयोग करते हैं। नगरिया, नागाड़े, गुदुम्ब पर बजने वाला ताल तो बदलता ही है साथ ही बदल जाता है प्रस्तुती का लहजा और देह गति। आप उनसे पूछिए की आप की देहगति आपने क्यों बदली तो उनके पास एक सीधा सा ज़वाब होता है कि फलां वाद्ययंत्र बोलता है कि तुम्हे यह करना है। यानी कथा, गीत, नृत्य की प्रकृति के हिसाब से उनमे विशेष तरह के बजने वाले वाद्ययंत्र भी हैं। कौन सा रस किस वाद्ययंत्र के उपयोग से सहज बन पड़ेगा इसका उन्हें ज्ञान है क्योंकि उन्होंने उसका इजाद किया है।

बैगा जनजाति में परघौनी नृत्य होता है, उसमे तीन खाट के जोड़, कुछ बोर के फट्टे और काले कपड़े को मिलाकर विशाल काय हाथी बनाया जाता है। हाथी के ऊपर दूल्हा बैठता है और नीचे से उसे चार लोग कंधे पर उठाये रहते हैं। उसके साथ–साथ एक नर्तक दल नृत्य करता हुआ चलता है। यह इनका विवाह नृत्य है इसी के पूरी बरात आगे बढ़ती है। इस दौरान कुछ वैवाहिक संस्कार भी नाटकीय ढंग से पूर्ण किये जाते हैं। चार व्यक्तियों के कंधे पर टंगा लकड़ी का हाथी दूर से देखने पर हाथी ही लगता है, उसकी चाल देख कोई भी भ्रम में आ सकता है। ए बताते हैं कि पहले हाथी पर बैठकर दूल्हा ससुराल आता था। लेकिन अब हाथी न होने के कारण उन्होंने अपनी परंपरा को छोड़ा नही बल्कि उसे परिवर्तित किया और इसे नए रूप में लेकर आये। यहाँ हाथी का बनाया जाना, उसकी चाल, उसका चिघाड़ना, हाथी पर दूल्हे का बैठना, और वैवाहिक संस्कारों का निर्वहन सब कुछ पूर्व निर्धारित होता है। यह उनका प्रदर्शन स्थल होता है।

ढोलिया एवं घसिया जनजाति के गुदुम्ब–बाजा की नृत्य संरचना, ब्लाक और उनके द्वारा बनाई जाने वाले संरचनाये मंच के दृश्य विन्यास की तरह हैं। गुदुम्ब–बाजा में हिरण या बारह सिंघे का सींग लगा होता है और इसे बजाने वाला कलाकार सम्बंधित जानवर का अभिनय करते हुए उसे बजाता है। नृत्य करते हुए वो कभी दर्शक की तरफ भाग खड़ा होगा तो कभी वो सींग से मिट्टी खोदने लगेगा और परस्पर एक–दुसरे से जानवरों की तरह ही लड़ने का करतब भी करेगा। संस्कृत नाटकों में होने वाले पूर्वरंग में करतब, कौतुक के होने का ज़िक्र मिलता है। यहाँ भी किसी अनुष्ठान की शुरुआत या दर्शक वर्ग को इकट्ठा करने के उद्देश्य से एवं ध्यानाकर्षण के लिए कौतुक किया जाता है। यह प्रयोग शादी व्याह के अवसर पर जनसमूह के एकत्रित करने के लिए भी किया जाता था। गुदुम्ब–बाजा का वादक पहले नट की तरह कान में हाथ रखकर कुछ आवाजे सुनने का अभिनय करेगा। धीरे–धीरे यह आवाज़ चारो तरफ से आने लगेगी वो चारो तरफ दौड़ेगा फिर एक पंक्ति गायेगा मानो उसे यह करने के लिए कहा गया हो। और इसी दौरान पाद गति के साथ वाद्य का बजना शुरू होगा। भिन्न–भिन्न जानवरों, पंछियों का रूप धर वो दर्शकों को अचम्भित करता रहेगा। दरअसल इस नृत्य की उत्पत्ति ही कौतुक के आधार पर हुई थी। लोक की अवधारणा है कि यह शिव विवाह के समय होने वाले तमाम तरह के कौतुकों में से एक था। इसमे जीवजगत के भिन्न–भिन्न जीवों की आकृतियाँ बनायी

जाती थीं। जो जनसमूह को भयभीत करने के लिए होती थीं। कलांतर में यह लोक में इसमें थोड़ा लास्य आया और शादी–विवाह में होने वाले नृत्यों में एक रहा। मुझे अच्छी तरह याद है कि गुदुम्ब नृत्य सूनने के लिए हम 10–10 किलोमीटर तक जाते थे। शादी व्याह में सारे संस्कार एक तरफ और गुदुम्ब–बाजा एक तरफ। इस नृत्य के प्रधान तत्व इसका वाद्य गुदुम्ब और जानवरों का अनुकरण है। इसी के आकर्षण और लालच में लोग–लो कई–कई रात तक जागते थे। नींद से आँखे लाल है फिर भी गुदुम्ब–बाजा देखने जाना ही है। क्योंकि उसमे अभिनय है, कौतुक है, हास्य है। जनजातीय कला रूपों में टप्पा, झोलइयां, ठड़गिता, मलेलबा यह श्रम गीत है यानी काम करते–करते गीत और संवादों का आदान–प्रदान। विद्वान् इसे इसे आसु रचना कहते है। इसमें त्वरित सवाल–ज़वाब होता है यानी की इम्प्रोवाइजेशन। यह विंध्य के ही नही बल्कि पूरी दुनिया के सबसे सुन्दर प्रेम गीत हैं। इनकी पहली पंक्ति का तो तुकबंदी के हिसाब से कही जाती है लेकिन दूसरी पंक्ति में गीत का सारा सार छुपा होता है। इस गीत में क्रिया प्रतिक्रया के साथ–साथ, संवाद और लय का होना अति आवश्यक है। इसे बघेलखण्ड में गीतों की रानी कहा जाता है। इसमें अलग से कोई भूमिका नही होती, मात्र यह क्रिया के बदले त्वरित की गयी प्रतिक्रया है। लेकिन इससे खूबसूरत रचना, शब्द चयन और बिम्ब किसी अन्य गीत में नही होते। जंगल, पहाड़ों में काम करता हुआ श्रमिक काम की गति बढ़ाने, एवं श्रम के बीच में ही आराम की अवस्था पाने के लिए इस त्वरित सवाल–ज़वाबी गायकी का प्रयोग करता है। अक्सर यह दो–दो के जोड़ो में होता है। कभी–कभी यह समूह को दो पक्षों में बाँट कर किया जाता है। समूह प्रस्तुती के दौरान की क्रिया–प्रतिक्रया और उनकी विलक्षण सूझ–बूझ देखने लायक होती है। यह त्वरित प्रतिक्रया का गुण एक दो दिन में नही बल्कि सालों–साल सुनते, देखते और अभ्याश करते हुए आता है। इन गीतों में इनका ऑब्जरवेशन होता है, यह अपने आस–पास और प्रकृति के एक–एक तत्व को बड़ी बरीकी से देखते–समझते हैं और यही कारण है कि इन गीतों में बिम्ब बनते हैं। टप्पा कलाकार अपनी भाषा या बोली के चलते–फिरते शब्द कोष होते हैं। इनका टप्पा गाना यानी हर दिन अपने बोली के शब्दों में बढ़ोत्तरी करना है। यह सिद्धहस्त लोक कलाकारों द्वारा किया जाने वाला आशु अभिनय होता है। यह कलाकार साक्षर ज़रूर नही होते लेकिन इनका जीवन अनुभव रचनात्मकता से लबरेज़ होता है। टप्पा गायकी पूर्णतः ऑब्जरवेशन और जीवन अनुभवों पर आधारित है। जो जितना बेहतर दर्शक होता है वह उतना ही बेहतर टप्पा गायक होता है ।

निष्कर्ष

इह लोक में प्रारंभ से अब तक लोक कलारूपों एवं साहित्य की उत्पत्ति और विकास के केंद्र में जीवनशैली रही है। भारतीय लोक संस्कृति, आदिवासी संस्कृति भी इसी जीवनशैली का हिस्सा है। यानी कि हमारी जीवन शैली के अनुरूप ही हमारी लोक संस्कृति विकसित एवं पल्व्वित पुष्पित होती रही है। आदिवासी कलारूप अभी भी लोक की अपेक्षा ज़्यादा शुद्ध एवं अपने अनगढ़ स्वरूप में बचे हुए हैं। जब हम इनका अवलोकन करते हैं तो हमे सहज ही इनमें रंगमंच के ज़रूरी और आधार तत्व दिखते हैं। यह आधार ततव किसी भी नई विधा के उत्पत्ति एवं विकास के मानक हैं। रंगमंच की उत्पत्ति का सिध्यांत हमारे भिन्न–भिन्न हो सकते हैं लेकिन मूल रूप से इसके अंश तो आदिवासी कलारूपों में ही हमें देखने को मिलते हैं। मंचीय प्रस्तुतियों में आदिवासी एवं लोक कलारूपों आदि का हमें परिमार्जित स्वरूप देखने को मिलता है। इस प्रदर्शन से भारतीय लोक एवं आदिवासी जन समूह की जीवनशैली और मूल सांस्कृतिक विशिष्टता दोनो ही नजर नही आतीं। देशकाल वातावरण अनुसार निश्चित ही आदिवासी जीवन शैली में बदलाव होना स्वभाविक है लेकिन उनके मूल स्वरूप ही हमें उनमें निहित रंगमंचीय तत्वों एवं विकासक्रम को समझने में सहायक हो सकते हैं।

संदर्भ सूची

1. शुक्ल, डॉ. भगवती प्रसाद – बघेली भाषा और साहित्य, उ. प्र. इलाहाबाद, साहित्य भवन प्रा. लि., प्रिंट 1971
2. 'विकल' गोमती प्रसाद, बघेली संस्कृति और साहित्य, मुल्ला रामू जी संस्कृति भवन बाणगंगा, भोपाल, के. ए. कबीर संचालक राजभाषा एवं संस्कृति संचालनालय भोपाल, प्रिंट 1999
3. लोक संचयनकर्ता नरेद्र बहादुर सिंह के अप्रकाशित संकलन बघेली लोक सम्पदा खण्ड– 4 'नृत्य गीत'